

## भावना : एक चिन्तन

रज्जन कुमार

चिन्तन करना मानव-स्वभाव है। जीवनपर्यंत मनुष्य निरंतर चिंतन करता रहता है। चिंतन की यह श्रृंखला मनुष्य के 'विचार' के नाम से जाने जाते हैं। विचार शुभ और अशुभ दो प्रकार के माने गए हैं। शुभ और अशुभ का विभेद एक विचारणीय प्रश्न है क्योंकि कोई विचार किसी क्षण किसी के लिए प्रशस्त हो सकता है तो उसी क्षण वही विचार किसी अन्य के लिए अप्रशस्त भी माना जा सकता है। फिर भी शुभ और अशुभ के बीच एक सामान्य विभेद रेखा अंकित करने का प्रयास हुआ है। प्रायः जो विचार प्रमाद से मुक्त रहता है वह शुभ या प्रशस्त तथा प्रमादयुक्त विचार अशुभ या अप्रशस्त माना जाता है। विद्वानों और मनीषियों ने ऐसे ही प्रशस्त विचार को अपनाए पर बल दिया है। कारण उससे स्वयं व्यक्ति का तथा जनसमुदाय का कल्याण होता है।

जैन परंपरा में विचारों के चिन्तन पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। यहाँ वह विश्वास किया गया है कि मानव के मन में चिंतन की उर्मियाँ निर्बाध रूप से तरंगित होती रहती हैं। चिंतन की इस स्थिति में व्यक्ति के मन में नाना प्रकार के भाव उठते रहते हैं। कभी उसके मन में 'स्व' के कल्याण का भाव जागृत होता है तो कभी 'पर' के हानि का भाव पनपता है। उसके मन में जिस प्रकार के भाव उठते हैं, उन्हीं के अनुरूप वह कार्य भी करता है। उसके द्वारा जिस तरह के कार्य किए जाते हैं उसीके अनुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। जैनों की कर्म के संबंध में यह मान्यता है कि किया गया कर्म कभी भी निष्प्रयोजन नहीं होता, वह कभी न कभी फल देगा ही। जैन परम्परा में कर्म को पुद्गलरूप माना गया है तथा उसे ही आत्मा या जीव को बंधन में बांधनेवाला प्रमुख कारक माना गया है।

जैन परंपरा में आत्मा या जीव को चार अनन्त गुणों (अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य) से युक्त माना गया है। कर्मावरण के कारण आत्मा के इस अनंतगुणात्मक शक्ति में कमी आ जाती है। इस अवस्था में वह संसारस्थ होकर 'स्व' तथा 'पर' के विक्षेप में फँस जाता है। विक्षेप की यह अवस्था जीव के बंधनयुक्त अवस्था का परिचायक है। कर्मावरण के हटते ही जीव पुनः अनंतचतुष्टय रूप को प्राप्त कर लेता है। अनंतचतुष्टय रूप को प्राप्त करते ही जीव सांसारिक प्रपंचों से मुक्त होकर परमानंद की अवस्था में आ जाता है। इसे सिद्धावस्था, मोक्षावस्था, अरिहंतावस्था आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैन-परम्परा में मानव का मुख्य ध्येय इसी परमसर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करना माना गया है। इस हेतु त्रिरत्न (सम्यक्दर्शन - सम्यक्ज्ञान - सम्यक्चारित्र) की साधना का अभ्यास अनिवार्य माना गया है। क्योंकि बिना इसके अभ्यास से मुक्ति या कर्मावरण का विच्छेदन करना संभव नहीं है।

त्रिरत्न की साधना एक बृहत् एवं कठिन प्रक्रिया है। इस हेतु विभिन्न प्रकार के तपादि का अभ्यास किया जाता है। तप के द्वारा संचित कर्मों की निर्जरा की जाती है क्योंकि जबतक कर्मों को पूर्णतः निर्जरित नहीं किया जाएगा, शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्राप्त करना संभव नहीं है। इसके साथ ही साथ आत्मा की तरफ आनेवाले कर्म प्रवाह को भी रोकना होगा जिसे संवर के नाम से जाना जाता है। क्योंकि कर्मों को निर्जरित करने की प्रक्रिया का तबतक कोई अर्थ नहीं रह जाएगा, जबतक कि नए कर्मांश्रव के प्रवाह को रोका नहीं जाए। इस हेतु व्यक्ति को अपने चंचल मन को एकाग्र करना पड़ता है। कारण मन की चंचलता से शरीर और वाक् संयम प्रभावित होता रहता है। मन को एकाग्र करने की बहुत सारी प्रक्रियाओं में से एक है भावना या अनुप्रेक्षा। इस विषय पर जैनाचार्यों ने गहराई से चिंतन किया है।

जैन परंपरा में 'भावना' या 'अनुप्रेक्षा' से तात्पर्य विचारों के सम्यक् चिन्तन से रहा है। प्रायः व्यक्ति के मन में नानाविध विचार पलते रहते हैं। व्यक्ति इन्हीं विचारों के वशीभूत होकर अपने कार्यों का संपादन करता है। कार्य संपादन की श्रृंखला में वह अपने मूल पथ से भटक जाता है। मूल उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधक को अपने विचार

शुद्ध करने होते हैं। इस हेतु उसे निम्नलिखित बारह भावनाओं का चिन्तन करने का निर्देश दिया गया है<sup>२</sup> - १. अनित्य-भावना, २. अशरण भावना, ३. संसार-भावना, ४. एकत्व-भावना, ५. अन्यत्व-भावना, ६. अशुचि-भावना, ७. आस्रव-भावना, ८. संवर-भावना, ९. निर्जरा-भावना, १०. लोक-भावना, ११. धर्म-भावना और १२. बोधि-भावना। इन बारह भावनाओं के चिन्तन से व्यक्ति संसार एवं उसमें पाई जानेवाली असारता को अच्छी तरह से जान लेता है। जब उसे इसका बोध हो जाता है तब वह सम्यक् आचरण को अपना लेता है। सम्यक् आचरण अपना लेने से वह अपने कर्मावरण के बंधन को छेदने में समर्थ होता है। ज्यों-ज्यों उसके कर्मावरण क्षीण होते हैं उसे परमसुख का अर्थ समझ में आता जाता है। अंत में वह परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। परंतु हमें यहाँ यह अवश्य याद रखना होगा कि परमानन्द (मोक्षावस्था) की प्राप्ति त्रिरत्न के द्वारा ही संभव है और इस त्रिरत्न की प्राप्ति में भावना या अनुप्रेक्षा मात्र एक सहायक बन सकता है।

संसार भावना के द्वारा व्यक्ति संसार की अनित्यता का बोध करता है। इस भावना के चिन्तन करने से यह भलीभाँति जान लेता है कि संसार की कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। सांसारिक वस्तुएँ विनाशशील है। इस नाशवान् वस्तु के प्रति मोह रखना व्यर्थ है। क्योंकि नाशवान् वस्तु के प्रति मोह रखने का अर्थ व्यर्थ के प्रपंच में पड़ना है। उत्तराध्ययनसूत्र<sup>३</sup> (प्रायः ईस्वी पूर्व २ शती) में स्पष्टरूप से कहा गया है कि संसार की सभी वस्तुएँ (शरीर, धनादि) अनित्य हैं। उनके प्रति किसी तरह का मोह नहीं रखना चाहिए क्योंकि यह बंधन को दृढ़ करता है। अशरणभावना मानव को संसार में पाए जाने वाले शरणागत तत्त्वों के प्रति जागृत करता है। इस भावना के चिन्तन से साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि इस संसार में धन, वैभव, सुख आदि के जो साधन हैं वे उनके लिए शरणभूत नहीं हैं। क्योंकि जब व्यक्ति का अंतिम समय आता है तो ये सारी वस्तुएँ उसका साथ छोड़ देती हैं। कोई भी उसके अंतिम प्रयाण में साथ नहीं देता है और न रक्षा ही कर पाता है। आचार्य शिवार्य “अशरण-भावना” पर प्रकाश डालते हुए आराधना (प्रायः ६वीं शती) में लिखते हैं — सभी प्रकार के विद्या, तंत्र-मंत्र, राजनीति, छल-प्रपंच, महाबलशाली, महापराक्रमी व्यक्ति भी किसी को शरण नहीं दे सकता है क्योंकि ये सभी कारण व्यक्ति को आनेवाली मृत्यु से नहीं बचा सकते हैं<sup>४</sup>। जन्म और मरण, उत्पन्न और नाश अवश्यंभावी तथ्य है। इसी तरह से कर्म और फल में अविनाभाव संबंध है। जीव द्वारा किया गया कर्म कभी भी निष्प्रयोजन नहीं हो सकता है। सभी कुछ कर्मजनित है। अशरण-भावना में कर्म को प्रधान माना गया है; और ऐसा लगता है कि इसे ही परिणाम का नियंता भी मान लिया गया है।

संसार में दुःख का साम्राज्य है। यहाँ जो सुख है, वह भी दुःख का कारण बनता है। संसार-भावना के चिन्तन करने से व्यक्ति इस तथ्य से अवगत हो जाता है तथा संसार के सुख-दुःख से विरत रहने का प्रयत्न करता है। मरणविभक्ति प्रकीर्णक (प्रायः ईस्वी दूसरी शती) में संसार की दुःखमयता को विवेचित करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि इस संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख है। उनसे कोई भी व्यक्ति नहीं बच सकता है<sup>५</sup>। कभी उसे शरीर की वेदना से कष्ट होता है तो कभी वह मानसिक क्लेश से पीड़ित होता है। कभी उसे स्त्री-पुत्र के मोह का दुःख है तो कभी धन-वियोग की परिस्थिति उत्पन्न होने से पीड़ित होता है। कभी मनुष्य को मृत्युरूपी अवश्यंभावी दुःख की वेदना झेलनी पड़ती है तो कभी जरारूपी शत्रु का सामना करना पड़ता है। दुःख की इस दुरावस्था के कारण ही मानव इनसे बचना चाहता है।

मानव स्वयं अपना भाग्य विधाता है। वह जो भी कर्म करता है, उसके फल का भोक्ता वह स्वयं है। कर्म कोई करे और फल कोई भोगे ऐसा नियम नहीं है। एकत्व-भावना में वस्तुतः इसी तरह के विचारों का चिन्तन किया जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि मानव अपने सहोदरों के लिए व्याकुल रहता है। अपने पुत्र-पुत्रियों-संबंधियों-मित्रों को सदा सुखी देखना चाहता है। उन्हें सुख प्रदान करने के लिए धनोपार्जन करता है। सुंदर और मजबूत भवन शीतादि

से रक्षा के लिए निर्मित कराता है। उदरपूर्ति एवं स्वादपेषणा के शमन हेतु स्वादिष्ट पकवान्नों का पाक करवाता है। इन सब कार्यों को संपन्न करने के लिए उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रशस्त और अप्रशस्त कर्म करने होते हैं। इन सबके कारण उसकी आत्मा पर पड़ने वाले कर्मावरण का बंध दृढ़ होता है और वह निरंतर जन्म-मरण के चक्र को भोगता रहता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता-भोक्ता है। श्रेष्ठाचार से युक्त आत्मा मित्र है तथा दुराचार से युक्त आत्मा शत्रु। दुराचार में प्रवृत्त आत्मा जितना अपना अनिष्ट करती है उतना ज्यादा अनिष्ट घोर शत्रु भी नहीं कर पाता है<sup>६</sup>। ऐसे दुराचारी आत्मा मृत्यु के समय अपने दुराचार को याद करके दुःखी हुआ करता है और निरंतर अपना संसार बढ़ाता रहता है। एकत्व-भावना को चिंतन करने वाला व्यक्ति यह मेरी स्त्री है! यह मेरा पुत्र है! यह मेरा सहोदर है! यह मेरी सम्पत्ति है! मैं उसका हूँ! यह मेरा घर है! आदि भावों से मुक्त होकर ममत्तारूपी शत्रु को जीत लेता है तथा कल्याणरूपी पथ पर आगे बढ़ जाता है।

संसार की समस्त वस्तुएँ हमसे भिन्न है। हम अलग हैं, हमारे बंधु-बांधव, हमारे धन-ऐश्वर्य ये सभी हमसे भिन्न हैं। अन्यत्व भावना का यही हार्द है। यहाँ मुख्यरूप से भिन्नता पर चिन्तन हुआ है। यह माना गया है, कि व्यक्ति का स्वयं का उसका अपना शरीर अपना नहीं है, क्योंकि इस शरीर में निवास करने वाली आत्मा इस शरीर से भिन्न है। अलगाव की अवधारणा की यह पराकाष्ठा मानी जा सकती है। मरणविभक्ति (प्रायः ईस्वी दूसरी शती) में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि हमारा यह शरीर अन्यत्व है, हमारे बंधु-बांधव अन्यत्व हैं<sup>७</sup>। अन्यत्व के इस भाव का ज्ञान नहीं होने के कारण ही व्यक्ति दुःख का भोग करता रहता है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने शरीर में होने वाले कष्टों, परिषहों को निर्लिप्त भाव से सहन करने का निर्देश दिया है। उनकी दृष्टि में शरीर को जो कष्ट, वेदना आदि होता है उसे निर्लिप्त भाव से सहन करना चाहिए क्योंकि ऐसा नहीं करने से हमारे ज्ञानावरण कर्म में वृद्धि होगी और अज्ञान की इस प्रक्रिया में हमारे कर्मावरण का बंधन और अधिक दृढ़ होता जाएगा। फलतः हम संसार रूपी महासमुद्र के गहरे जल में डूबते उतराते रहेंगे। जबकि हमारा मुख्य ध्येय इस महासमुद्र को पार करने से है, न कि इसमें डूब जाने से है। इसी तरह बंधु-बांधवों के सुख-दुःख में इतना अधिक नहीं रम जाना चाहिए कि ये हमारे लिए बंधन के सबल कारण बन जाएँ। अन्यत्व भावना हमें यह बोध कराती है कि इस संसार में लोकव्यवहार को चलाने के लिए जितने भी संबंध है वे कर्माधीन हैं। हमें उनसे मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

अशुभ-वृत्ति को त्यागने के लिए अशुचि-भावना का चिंतन किया जाता है। अशुचि का अर्थ अशुभ या अपवित्र होता है। प्रायः व्यक्ति अशुभ एवं अपवित्र वस्तुओं से बचकर रहना चाहता है। जैन ग्रंथों में अशुभ तत्त्वों से बचकर जीवन यापन करने का निर्देश दिया गया है तथा उनके प्रति ममत्व या आसक्ति नहीं रखने को कहा गया है। आचार्य शिवार्य का मानना था कि अर्थ, काम और मनुष्य-शरीर अशुभ हैं<sup>८</sup>। अतः व्यक्ति को इन अशुभ तत्त्वों से बचकर रहना चाहिए। मनुष्य का यह शरीर अनेकानेक व्याधियों का घर है। चर्बी, रुधिर, मांस आदि अपवित्र वस्तुओं से बना यह शरीर मोह करने लायक नहीं है। शरीर के विभिन्न अंगों में कफ, मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का संग्रह रहता है। अतः ऐसे शरीर के प्रति मानव को किसी तरह का ममत्व नहीं रखना चाहिए।

आत्मा को बंधन में डालने वाले कर्मों का आगमन उसकी तरफ कैसे होता है, इन तथ्यों पर विचार करने के लिए आस्रव भावना का चिंतन किया जाता है। मानव के मानसिक - वाचिक - कायिक वृत्तियों के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होता है। शुभवृत्ति से कर्मावरण का बंधन क्षीण और कमजोर होता है। जबकी अशुभ वृत्ति से यह दृढ़ होता है। यही कारण है कि व्यक्ति को निर्दोष वचन, निर्दोष कर्म, तथा निर्दोष विचार करने को कहा गया है। क्योंकि इनसे उसे संसार से मुक्ति सुलभ हो जाती है। मरणविभक्ति में ईर्ष्या, विषाद, मान, क्रोध, लोभ, द्वेष आदि को आस्रव-द्वार माना गया है<sup>९</sup>। इन्हीं आस्रव-द्वारों के माध्यम से आत्मा की तरफ कर्म-पुद्गलों का आगमन होता है। ये कर्म-पुद्गल

जीव के विनाश का कारण बनते हैं। जिनसे किसी को हानि होती है सामान्यरूप से व्यक्ति उन वस्तुओं से बचकर रहता है। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मान आदि तो महाविनाश करनेवाले तथ्य हैं। अतः व्यक्ति को इनसे बचकर ही रहना चाहिए।

मनुष्य को लोभ-क्रोध-मान-माया आदि दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए, क्योंकि ये सभी उसकी आत्मा को दूषित करते हैं। इन दोषों से मलिन आत्मा विभिन्न तरह के क्लेशों का भाजन बनती है। दुष्प्रवृत्तियों से बचने के लिए व्यक्ति जिन उपायों का सहारा लेता है, उसे संवर कहते हैं। इन संवरों के विषय में चिंतन करने से व्यक्ति अपने राग-द्वेष पर विजय पा लेता है और कषायरूपी शत्रु का दमन कर लेता है। इस तरह वह शत्रुंजय होकर परम सुख को प्राप्त कर लेता है। पं० आत्मारामजी संवर-भावना की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं- संवर ही वह उपाय है जिसकी सहायता से जीव इस संसाररूपी दुर्गम और दुर्गति देने वाले पथ से मुक्ति पा सकता है। यह जीव को अनेकविध कष्टों से बचाकर कैवल्य प्राप्ति में सहायक होता है<sup>१०</sup>। राग-द्वेष से वशीभूत होकर व्यक्ति नानाविध कर्मों का सम्पादन करता है। संवर-भावना के कारण वह उनसे पूरी तरह मुक्त हो जाता है। यही कारण है कि इसे मोक्ष पद दिलानेवाली भावना भी कहा गया है।

आस्रव अर्थात् जीव को बंधन में डालने वाले कर्मों को संवर की सहायता से रोक लिया जाता है। इस कारण जीव के नए कर्मबंध नहीं बनते हैं। लेकिन पहले से जो कर्म पुद्गल जीव के साथ बंधे रहते हैं उनका क्षय हुए बिना मुक्ति संभव नहीं है। पुराने कर्मपुद्गलों के क्षय करने की यह प्रक्रिया निर्जरा के नाम से जानी जाती है। इस हेतु जीव को नानाविध तप का आश्रय लेना पड़ता है। जैन परम्परा में बाह्य और आभ्यन्तर ये दो प्रकार के तप माने गए हैं। इन दोनों के अभ्यास करने से जीव द्वारा चिरकाल से संचित कर्म का क्षय होता है और साधक अपने अनंतचतुष्टयरूप को प्राप्त करके परम आनंद का अनुभव करता है<sup>११</sup>। ऐसी मान्यता है कि जीव के साथ जो कर्म अनादिकाल से बंधे हुए हैं उनमें से कुछ का क्षय स्वयंमेव होता रहता है और कुछ का प्रयास पूर्वक क्षय किया जा सकता है। स्वयंमेव कर्मक्षय की प्रक्रिया अकाम निर्जरा तथा प्रयास सहित कर्मक्षय की प्रक्रिया सकाम निर्जरा के नाम से जानी जाती है<sup>१२</sup>। इन दोनों क्रियाओं के सम्मिलित रूप से आत्मा के साथ पूर्व में बंधे कर्मों का क्षय कर दिया जाता है तथा संवर की सहायता से नए कर्मों का बंध भी रोक दिया जाता है। उस तरह जीव कर्मपुद्गलों से पूर्णतः मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

यह लोक षड्द्रव्यों<sup>१३</sup> (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से बना है तथा तीन भागों में विभक्त है<sup>१४</sup> : १. ऊर्ध्वलोक, २. मध्यलोक, और ३. अधोलोक। ऊर्ध्वलोक लोक का सबसे अधिक पुनित क्षेत्र है। यहाँ पर रहनेवाले जीव देवयोनि के धारक माने गए हैं। सिद्धशिला क्षेत्र जो सिद्ध जीवों का अवस्थान क्षेत्र माना जाता है यही पाया जाता है। सिद्धजीव सभी तरह के कर्मों से मुक्त असंसारी या मुक्त जीव होते हैं। इन्हें संसार का दुःख-सुख किसी तरह से प्रभावित नहीं करता है। ये जन्म और मृत्युरूपी अनादि परम्परा से मुक्त माने जाते हैं। मध्यलोक मर्त्यलोक के नाम से जाना जाता है। मनुष्य, पशु आदि जीवों का निवास इसी लोक में माना गया है। यहाँ रहनेवाले जीव संसारी जीव कहलाते हैं तथा ये जन्म-मरण, सुख-दुःख आधि-व्यादि आदि महान रोगों के संत्रास से पीड़ित रहते हैं। राग-द्वेषादि से वशीभूत होकर जीव नानाविध क्रिया-कलापों का संपादन करता है और कर्मजनित बंधन में अनादिकाल से पड़ा रहता है। इसी लोक में रहनेवाले प्राणी अपने सदप्रयास से कर्मरूपी अनादि बंधन का विच्छेद करके सिद्धत्व को प्राप्त कर सकते हैं एवं दुराचरण करके कर्मबंध को अत्यधिक दृढ बना कर अनादि काल तक दुःख भोग कर सकते हैं।

अधोलोक को नरक माना गया है। जैनग्रंथों में सात प्रकार के नरक माने गए हैं। इन नरकभूमियों में दुःख ही

दुःख है। यहाँ अत्यंत उष्णता, प्रचंड शीत, तीव्र क्षुधा वेदना, भयंकर प्यास, दुर्गन्धयुक्त कड़वे भोज्य पदार्थ आदि दुःखों के क्लेश को सहना पड़ता है। यहाँ के निवासी प्राकृतिक रूप से कपटी, ईर्ष्यालु, क्रोधी, झगड़ालू होते हैं। स्वार्थपूर्ति के लिए निरंतर संघर्ष करते रहते हैं। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (प्रायः ईस्वी ३५०) में नरकभूमि का वर्णन करते हुए कहा गया है- यहाँ अतिप्रचंडशीत, आतप, वध, दुर्गन्ध, भय आदि जनित वेदनाएँ हैं। यहाँ किसी प्रकार का सुख नहीं है। नरक में रहनेवाले जीव नपुंसक होते हैं, अतः उन्हें कामसुख भी उपलब्ध नहीं होता है<sup>५५</sup>। लोकभावना के अंतर्गत लोक के इन्हीं स्वरूपों पर चिन्तन किया जाता है। व्यक्ति अपने सदग्रयास से मर्त्यलोक से निकलकर सिद्धलोक को प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः सिद्धलोक की प्राप्ति ही मानव मात्र का ध्येय भी माना जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति मुक्ति चाहता है, बंधन नहीं। कोई भी नरकवासी नहीं बनना चाहता है।

धर्म क्या है? मानव को 'धर्म' से क्या लाभ हो सकता है? उसे धर्म के प्रति कौन से कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए इत्यादि प्रश्नों के विषय में चिन्तन धर्म-भावना कहलाता है। धर्म आस्था का विषय है और आस्था के द्वारा ही व्यक्ति किसी विषय में श्रद्धा रख सकता है। श्रद्धा एक पवित्र भावना है। श्रद्धावश व्यक्ति किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव रखने लगता है। यह राग-द्वेष उसके बंधन का कारण बन जाता है। परंतु यहाँ श्रद्धा का भाव राग-द्वेष को वृद्ध करने से न होकर उसके विच्छेद से है। जब व्यक्ति इससे मुक्त हो जाता है तब वह सिद्ध, जिन, तीर्थंकर कहलाने लगता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि इस संसार में एकमात्र शरण धर्म है, इसके अतिरिक्त जीव की रक्षा कोई और नहीं कर सकता है। जरा-मरण-काम-तृष्णा आदि के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप का काम करता है। इसी धर्मरूपी द्वीप पर जीव शरण लेता है<sup>५६</sup>। यही कारण है कि धर्म को आत्मकल्याण करनेवाला माना गया है, क्योंकि उसमें स्वार्थ, ममता, राग, द्वेष, आदि दुर्भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। इन सब दोषों से मुक्त व्यक्ति समस्त प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त हो जाता है और परम सुख की अनुभूति करता है।

इस संसार में बहुत सारी दुर्लभ वस्तुएँ पाई जाती हैं। यह संभव है कि कोई जीव उन दुर्लभ वस्तुओं को आसानी से प्राप्त कर ले, परंतु बोधि (सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यग्चारित्र)की प्राप्ति अत्यंत कठिन है। जीव नारक-तिर्थंकर-मनुष्य-देव इन योनियों में भटकता रहता है। भाग्यवश उसे मानव पर्याय मिल जाता है। इसी पर्याय में वह कर्मावरण के आवरण का क्षय करके योनि भ्रमण से मुक्त हो सकता है। कहा भी गया है कि किसी पुण्य कार्य के कारण ही जीव को मानव पर्याय प्राप्त होता है। इस मानव पर्याय का मुख्य ध्येय बोधि प्राप्त करना है। यही कारण है कि भगवान महावीर मनुष्यों को बोधि प्राप्ति का संदेश देते हुए कहते हैं- हे मनुष्यों! बोधि को प्राप्त करो, जबतक जीवन है तभी तक तुम बोधि को पा सकते हो, मृत्यु के बाद उसे प्राप्त करना संभव नहीं है। क्योंकि बीती हुई रात्रियाँ जिस प्रकार वापस नहीं लौटती हैं ठीक उसी तरह पुनः मानव जीवन मिलना भी दुर्लभ है<sup>५७</sup>। आचार्य शुभचन्द्र का मानना है कि बोधि की प्राप्ति संसाररूपी समुद्र में अत्यंत दुर्लभ है। इसे पाकर भी जो खो देता है वह हाथ में आए हुए रत्न को समुद्र में डाल कर पुनः खोजने और नहीं पाने जैसा ही दुर्लभ कार्य है<sup>५८</sup>। बोधि अर्थात् रत्नत्रय जीव का स्वभाव है। स्वभाव की प्राप्ति दुर्लभ नहीं मानी जा सकती। परंतु जीव जब तक अपने स्वरूप को नहीं जानता है और कर्म के अधीन रहता है तब बोधिस्वभाव पाना दुर्लभ है और कर्मकृत सब पदार्थ सुलभ हैं। कर्मावरण को नष्ट करके बोधिस्वरूप की प्राप्ति ही मानव का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और उसकी प्राप्ति हेतु सतत जागरूक रहना अपेक्षित है। अन्यथा बोधि की प्राप्ति नहीं होगी और समय बीत जाने पर मात्र पश्चात्ताप के और कुछ भी हाथ नहीं लगने वाला है।

इस तरह हम देखते हैं कि मानव मन पर विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। इन भावनाओं के चिन्तन से व्यक्ति के मन में उठनेवाले बुरे विचार, वासनाएँ, राग-द्वेष अल्प होते जाते हैं। अल्प राग-द्वेष से युक्त व्यक्ति समत्व की स्थिति में आ जाता है। समत्व भाव से युक्त व्यक्ति की मानसिक-वाचिक-कायिक सभी चेष्टाएँ अत्यंत संतुलित

रहती है। इन तीनों के संतुलन की स्थिति में व्यक्ति के कर्मों का बंध अल्प होता है फलतः वह निर्वाण या मुक्ति पथ की ओर शीघ्रता से कदम बढ़ाता है। एक क्षण ऐसा भी आता है कि वह सारे कर्मावरण को छेद कर मुक्ति को पा सकता है। अगर मुक्ति जैसी चीज को मान्यता नहीं भी दी जाए तो भी एक परम शांत एवं आनंदमय जीवन की प्राप्ति इन भावनाओं के चिन्तन द्वारा की जा सकती है और वर्तमान के संघर्षमय जीवन में यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

### टिप्पणी :-

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रथम खंड, प्रधान सं० मुनि मिश्रीलाल 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान) १९८२, पृ० ४२-४४ गाथा १/२/२-४.
२. (क) भगवती-आराधना, भाग २, गाथा १७१०, सं० पं० कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९७८, पृ० ७६१.  
(ख) कार्तिकियानुप्रेक्षा, गाथा २, ३ सं० प्रो० ए० एन० उपाध्ये, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास १९६०, पृ० २.  
(ग) ज्ञानार्णव, २/७ अनु० पन्नालाल बाकलीवाल, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास १९८१, पृ० १६.
३. उत्तराध्ययनसूत्र, १९/१३, विवे० साध्वी चंदना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, पृ० १८७.
४. भगवती आराधना, भाग-२, गाथा १७३८, १७३९, पृ० ७७३.
५. सो नत्थि इहोगासो लोए वालगकोडिमित्तो वि जम्मण-मरणा बाहा अणेगसो जत्थ न य पत्ता ॥ ५९५॥ मरणविभत्ति, पइण्यसुत्ताई, भाग-१, सं० मुनि पुण्यविजय एवं पं० अमृतलाल भोजक, प्रथम संस्करण, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई १९८४, पृ० १५४.
६. न तं अरी कंठद्दत्ता करेइ जंसे करे अण्णियादुरप्पा से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दया विद्दणो ॥२०/४८॥ उत्तराध्ययनसूत्र, साध्वी चंदना, पृ० २१२.
७. अन्तो इमं सरीरं अन्तो हं, बंधवा विभे अंते ॥५९०॥ मरण० पइण्यसुत्ताई - पुण्यविजयजी, पृ० १५३.
८. असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ॥८०७॥ भगवती-आराधना, भाग-२, पृ० ८०६.
९. ईसा-विसाय-भय-कोह-लोह-दोसेहिं एवमाईहिं । देवा वि समभिभूया तेसु वि य कजो सुहं अत्थि ? ॥६॥ मरण०पइण्यसुत्ताई - प्रथम भाग, सं० पुण्यविजयजी, पृ० १५५.
१०. भावनायोग, उपाध्याय आत्मारामजी म०, S. S. Jain Union, प्रथम संस्करण, लुधियाणा १९४४, पृ० ४७.
११. क्षपत्थन्तर्लीनिं चिरतरचितं कर्मपटलं ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥९॥ ज्ञानार्णव - सं० पन्नालाल बाकलीवाल, पृ० ४५.
१२. सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम् । निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥२॥ वही०, पृ० ४४.
१३. धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुगल जंतवो । एस लोमोत्ति पनित्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥२८/७॥ उत्तराध्ययनसूत्र, साध्वी चंदना, पृ० २८९.
१४. कार्तिकियानुप्रेक्षा, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, गाथा ११५-११८, पृ० ५५-५७.
१५. तत्त्वार्थसूत्र, विवे० पं० सुखलाल संघवी, तृतीय संस्करण, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९७६, ३/१-६, पृ० ११७.

१६. उत्तराध्ययनसूत्र, १४/४० - साध्वी चंदना, पृ० १४१.
१७. सूत्रकृतांग, २/१/११, उद्धृत जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, सागरमल्ल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर १९८२, पृ० ४३२.
१८. सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।  
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूर्त्यं महार्णवे ॥२॥ ज्ञानार्णव, पृ० ४५.
-